ISSN : 2583-2948

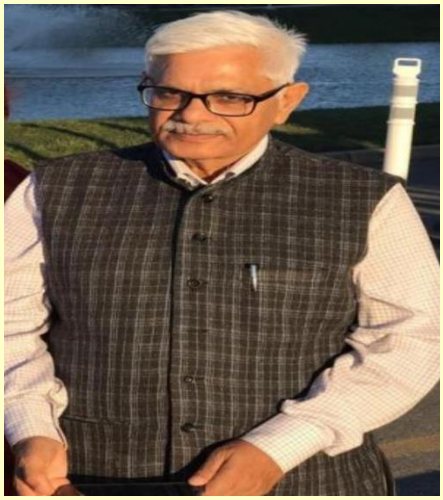

गिरीश्वर मिश्र
पूर्व कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी
विश्वविद्यालय, वर्धा

मानवीय रचनाशीलता का निकष है साहित्य

भाषा और साहित्य मानवीय चेतना की ऐसी विशिष्ट उपलब्धि है जो वैचारिक सृजन द्वारा समाज के लिए अनन्त संभावनाओं का द्वार खोलती चलती है। वाक् शक्ति का यह अन्यतम चमत्कारी उपहार मनुष्य को ऐसी सामर्थ्य की आधारभूमि प्रदान करता है कि वह पूरी सृष्टि के केंद्र में स्थापित हो जाता है। इस शक्ति के साथ मनुष्य को आंतरिक अभिव्यक्ति और बाह्य संवाद का एक सशक्त माध्यम उपलब्ध हो जाता है। वाचिक सत्ता में आने के बाद यह मानवीय रचना उन सबको प्रभावित भी करती है जो उसके प्रयोक्ता और संबोध्य होते हैं। अपने स्वभाव में कल्पित हो कर भी ये भाषिक प्रतीक मानवीय साझेदारी की अतुल्य संपत्ति हैं। शब्द सक्रिय हो कर हमारे वास्तविक व्यवहार-जगत के गठन के आधार बनते हैं। ध्वनियों और अक्षरों के मेल से बनते शब्द सामाजिक प्रयोग में आकर विलक्षण ऊर्जा से सम्पन्न हो उठते हैं। समाज द्वारा अपनाए जा कर वे समाज के मानस को भी रचते रहते हैं और यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है।

सृजन और संस्कार दोनों मिल कर संस्कृति को निर्मित करते हैं। संस्कार में 'मैं' की जगह 'अन्य' या 'दूसरे' महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि दूसरों के लिए जीना ही जीना है। मन, वचन और कर्म से दूसरों के लिए उपकार की वृत्ति ही संस्कृति का सार होती है। इसी दिशा में सृजन की प्रवृत्ति आगे बढ़े तो मनुष्य पशुत्व से ऊपर उठता है और सभ्य की कोटि में आता है । इस तरह संस्कृति की प्रक्रिया ही सभ्य होने के लिए आधार प्रदान करती है और मनुष्य का कल्याण ही उसका प्रयोजन होता है। कहा जा सकता है कि मनुष्य की गरिमा और उसके हित को साधने में आस्था ही संस्कृति में मुख्य बात है। तभी मानवीय चेतना का श्रेय प्रतिफलित हो सकेगा जिसकी अनुगूँज हम महाभारत से सुनते आ रहे हैं: *न हि मानुषात्परतरं किंचिदस्ति*।

संस्कृति मानवता की वास्तविक पूँजी होती है। मनुष्य समाज में बनता है और मनुष्य ही समाज को बनाता है और उसे समृद्ध भी करता है। पर ऐसे भी अवसर आते हैं जब मनुष्य समाज को विकृत करने लगता है। जब समाज में मर्यादा, विवेक और अनुशासन जैसी व्यवस्थाएँ खंडित होने लगती हैं तो समाज टूटने लगता है। हम अनुभव कर रहे हैं कि तब भीड़ बन जाती है जिसमें हिंसा, द्वेष, अपमान आदि का बाहुल्य होने लगता है। कहते हैं ऐसे ही क्षणों में कभी प्राचीन काल में धर्म और मर्यादा आदि की ज़रूरत महसूस हुई थी और भीड़ ने समाज का रूप लिया था। समाज के आकार लेने में यह बोध कि 'में' का 'तू' में समावेश होना चाहिए एक बड़ा कदम था ।

अन्य की या दूसरे की या फिर समाज की सत्ता में अपने को शामिल करना, दूसरों के लिए जीना ही संभवत: समाज की सामाजिकता का रहस्य है। यह तब होता है जब यह लगता है कि मेरे अपने सुख में सबका सुख तो नहीं हो सकता पर सबके सुख में मेरा सुख भी सम्मिलित होता है। हम दूसरों के लिए उत्तरदायी हैं यह भाव आना आवश्यक है। ऋग्वेद में कहा गया है कि जो यक्ति दूसरों को दे कर केवल स्वयं भोजन करता है वह पाप का भक्षण करता है यानी पापी है - *नार्यमणम् पुष्यति नो सखायं केवलाद्यो भवति केवलादी*। यही बात दूसरे ढंग से ईशावास्योपनिषद में आयी है –

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुंजीथा: मा गृध: कस्यस्विद्धनम्।।

अर्थात् सब कुछ ईश्वर से परिव्याप्त है, इस जगत में जो कुछ है, उसे त्याग से भोगो। दूसरे के धन पर लालच न करो, वह तो किसी का भी नहीं है।

इस बोध में शब्द पर टिकी सोच की मुख्य भूमिका होती है। हमारे बीच उपस्थित हो कर शब्द जब मुखर होते हैं और बोलने लगते हैं तो वे श्रोता को कुछ करने को उद्यत करते हैं। ध्वनि मात्र न होकर शब्द अर्थ से सम्पृक्त हो कर आकर्षण, विकर्षण, प्रेम, घृणा, हिंसा, द्वेष, स्नेह, भक्ति, स्वतंत्रता, दास्य आदि अनेकानेक प्रकार के भाव भरते हैं। हम इनसे नाना प्रकार की कियाओं के लिए प्रेरित होते हैं। इन्ही से जीवन में क़िस्म-क़िस्म के रंग भरते रहते हैं। जीवन में ग़ैर-जैविक या शारीरिक और अपने परिवेश से अर्जित व्यवस्था कितनी प्रचंड हो सकती है इसका प्रमाण शब्द-शक्ति में ही मिलता है। इसे आत्मसात् करने के बाद इसकी सत्ता हमारी सभी ज्ञानेंद्रियों और कर्मेंद्रियों से ऊपर स्थापित हो जाती है। इसकी अमोघ शक्ति के आगे सारी क्षमताएँ नतमस्तक रहती हैं।

वाक् की शक्ति से भारत का परिचय बड़ा ही पुराना है। ऋग्वेद के वाकसूक्त में वाक् को अनेकानेक रूपों में देखा पहचाना गया है। बाद में भर्तृहरि जैसे चिंतकों ने वाक् के विभिन्न रूपों या स्तरों - परा, पश्यंती , मध्यमा और वैख़री – की संकल्पना की । भर्तृहरि ने यह भी कहा कि भाषा द्वारा ही सब कुछ दिखता है – *सर्वं शब्देन भासते* भाषा और विचार के बीच का प्रगाढ़ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध अनेक आधुनिक विचारकों ने भी स्वीकार किया है। भाषा जिन विभिन्न श्रेणियों का उपयोग करते हुए विश्व का दृश्य उपलब्ध कराती है उसी के खाँचे रह कर हमारा अनुभव रचा-बंधा होता है। यह अवश्य है कि यह खाँचा सामाजिक प्रयोग के अधीन होता है और सुनम्य होने के कारण उसमें बदलाव भी सम्भव होता है। इस तरह भाषा और साहित्य स्वयं रचना होते हुए रचनाओं की ऋंखला को जन्म देते हैं। साहित्य ऐसी ही सोद्देश्य रचनाशीलता का प्रमाण होता है जिसमें साहित्यकार की प्रतिभा नवीन रचना का सृजन कराती है।

रचनाशीलता का उद्यम साहित्य कर्म को स्रष्टा की भूमिका ला खड़ा करता है। इसी अर्थ में कभी कवि को 'प्रजापति' कहा गया था। इस रूप में उसका विलक्षण दायित्व बनता है कि वह जो है उससे भिन्न और जो नहीं है और हो सकता है उसे अस्तित्व में लाये , जीवित कर प्राणवान बनाए । यह रचना अपूर्व होती है अर्थात् जो पहले अस्तित्व में न रही हो। रचनात्मकता का यह हस्तक्षेप भौतिक दुनिया की उठा नया' अर्थात् जो पहले की रचना से भिन्न है, मौलिक है अपनी अलग पहचान निर्मित होती है। यह भिन्नता सृजनात्मक वृत्ति के लिए प्राणस्वरूप होती है। उसी कृति को प्रतिष्ठा मिलती है, सम्मान और पुरस्कार मिलता है जिसमें कुछ नयापन होता है, जो पुरानी घिसी-पिटी लीक अलग परे जा कर हो । हालाँकि, एक सच यह भी है कि अक्सर नए को अपनी प्रतिष्ठा अर्जित करना आसान नहीं होता, उसे पुराने से टक्कर लेनी पड़ती है और प्रतिरोध की पीड़ा और उपेक्षा भी सहनी पड़ता है । कभी ऐसे ही क्षण में महाकवि कालिदास को यह कहना पड़ा :

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।

संत: परीक्षान्यतरद भजंते मूढा: परप्रत्ययनेयबुद्धि :।।

अर्थात् 'पुराना सब अच्छा है और नया ख़राब है' ऐसा तो मूढ़ और अविवेकी लोग ही सोचते हैं जो दूसरों की कही-कहाई बात सुन कर फ़ैसला लेते हैं परंतु साधु या विवेकसम्पन्न लोग सोच-विचार कर और परख कर ही अच्छाई या बुराई का

निश्चय करते हैं। नए के प्रति आकर्षण का एक पहलू यह भी है कि लगातार एक सा अनुभव हमारे मन-मस्तिष्क को उबा देने वाला होता है। नयेपन की हर किसी को तलाश रहती है। काव्य जगत में तो प्रसिद्धि ही है कि हर क्षण नया होते रहना ही रमणीयता का स्वरूप है : *क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः*। नया ही रमणीय होता है इसलिए नया सबको प्रिय लगता है। आज प्रत्येक क्षेत्र में नए की ही धूम मची रहती है। कोई पुराना नहीं रहना चाहता और नए को अपनाने के लिए मन में उत्सुकता रहती है और उसे अपना कर आनंद मिलता है।

पटक के बीच उसी के समानांतर एक और दुनिया को गढ़ता है। यह नई दुनिया भी सजीव हो कर नई संरचनाएँ बनाती चलती है। हमारी आज की दुनिया निरन्तर इसी तरह की रचनात्मक गत्यात्मकता से समृद्ध होती आई है।

अपनी भूमिका में साहित्य का मूल मनुष्य द्वारा अन्य के साथ संवाद में आकार ग्रहण करता है और आगे चल कर भविष्य के संवाद को आकार देता है। संवाद अपने स्वभाव में एकालाप न हो कर अपने से भिन्न 'अन्य' की अपेक्षा करता है। यह अन्य की अपेक्षा उससे जुड़ने के लिए होती है। संवाद की यह इच्छा मनुष्य के अकेलेपन की अपर्याप्तता की अनुभूति से उपजती है जो '*एकोहं बहु स्याम्*' के अनुभव में स्थित है। रचनाकार आत्म-विस्तार की भावना से प्रेरित होता है और 'अन्य' से जुड़ता है। इस अन्य में मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म यानी सारी प्रकृति समायी रहती है। वस्तुतः रचनाकार अपने सीमित अहंकार बोध को खोते हुए अन्य से तदाकार होने की ओर उन्मुख और अग्रसर होता है।

अक्सर लेखक या कवि अपनी पीड़ा या वेदना को बाह्य जगत में भी देखता है और द्रवित होता है। उसमें जब उद्वेलन होता है तो रचना का सृजन होता है। इस क्रम में लोक हित ही प्रमुख सरोकार हो जाता है। इस तरह साहित्य तटस्थ या निर्विकार मूक द्रष्टा नहीं होता है। उसकी सतत चेष्टा होती है कि अपनी सर्जनात्मक भागीदारी से अन्याय, असंतुलन, मिथ्याचार और जो भी अश्रेयस्कर है उसका प्रतिकार करे। साहित्य की सर्जना निश्चय ही एक दायित्वपूर्ण कार्य होता है जो ऐसे मूल्यों को प्रतिष्ठित करने के निमित्त सक्रिय होता है जो कल्याणकारी होते हैं। ऐसे में मूल्यों की प्रतिष्ठा संस्कृति की प्रक्रिया का अंतर्निहित और प्रकट दोनों ही तरह का अभिप्राय हो जाता है। साहित्य इस कार्य में विशेष रूप से मुख्य योजक की भूमिका में सहायक होता है। किसी देश काल में प्रथाओं और आशयों या अर्थ-छटाओं को समाज अंगीकार करता है। चूँकि ये उपयोग की दृष्टि से मूल्यवान होती हैं समाज इनको अपनाए चलता है और ये पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती हैं। इस तरह संस्कृति में पूरी जीवन पद्धति समाविष्ट होती है। इसे भौतिक और वैचारिक दोनों ही स्तरों पर ग्रहण किया जाता है तथा यह स्थिर न हो कर गतिशील होती है।

साहित्य संस्कृति का ऐसा अभिन्न अंग होता है जो संस्कृति से प्रभावित होता है और संस्कृति के स्वरूप को भी प्रभावित करता है। संस्कृति की छवि वहाँ के साहित्य में दिखती है इसलिए संस्कृति की पहचान उसके साहित्य के द्वारा होती है। इस अर्थ में वेद, पुराण, इतिहास और महाकाव्य आदि में उपलब्ध साहित्य के बिना भारत की संस्कृति की समझ सम्भव नहीं है। इसी तरह कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास और मीरा बाई प्रभृति संत कवियों की रचनाओं और अन्य भाषाओं के तत्कालीन और परवर्ती साहित्य के बिना भारतीय संस्कृति का स्पंदन नहीं ग्रहण किया जा सकता। इस तरह साहित्य की संस्कृति के निर्माण में केंद्रीय भूमिका होती है और साहित्य मूल्यों के प्रश्न से मुक्त नहीं हो सकता।

साझेदारी और सामंजस्य की प्रक्रिया रचनाकार को सहृदय बनाती है। लोक को समाविष्ट करना आज अत्यंत महत्वपूर्ण होता जा रहा है। आज जहां समाज का एक वर्ग ग़रीबी, अस्वास्थ्य और अज्ञान से दुखी है तो दूसरी तरफ़ सम्पन्न लोग हैं जो भय, अकेलेपन और असुरक्षा से त्रस्त हो रहे हैं। प्रौद्योगिकी के नित्य नए और संभवत: अविवेकी विकास से अबाध प्रगति और भौतिक सफलता अंतत कल्याणकारी है यह संदिग्ध हो रहा है। धरती पर अब तक पूरी हुई मनुष्य की विकास यात्रा में आविष्कारों की भूमिका असंदिग्ध है। पर सृजनात्मक प्रतिभा का निवेश यदि संहार और हिंसा की ओर ले जाय तो इसे संस्कृति नहीं कहा जा सकता। इक्कीसवीं सदी में ज्ञान – विज्ञान के शिखर पर पहुँचते हुए आज विश्व में युद्ध की विनाश लीला जिस तरह चल रही है वह किसी भी तरह शुभ न होकर विकृति को ही व्यक्त कर रही है। गौर तलब है कि इसी कोलाहल के बीच शांति, सहयोग और जीवन की पुकार भी कुछ हलकों से उठती रहती है। पर संस्कृति के महत्व से अपरिचित रह कर या जानबूझ कर उसकी मूल्यवत्ता को झुठलाते और विस्मृत करते हुए कोविड और जलवायु परिवर्तन जैसे घातक परिस्थितियों को जन्म दे रहे हैं। धन-सम्पदा के लिए

अंधी दौड़ और गलाकाट स्पर्धा के साथ विलासी जीवन-यापन अधिकाधिक व्यक्तिकेंद्रिकता की ओर ले जाता दिख रहा है। वह सहकार और सहयोग के विरुद्ध होता है। नैतिक आस्था और विश्वास से दूर ले जा रही प्रगति अंतत: छलावा ही सिद्ध होती है। संस्कृति मनुष्य को विकलांग और हीनता के बोध से ग्रस्त करने के लिए नहीं होनी चाहिए। दैहिक या भौतिक के साथ आत्मिक विकास भी उसके परिधि में आना चाहिए।

आज मनुष्य – मनुष्य के बीच भेदों की पहचान और उनके उत्सव मनाने की लालसा जितनी बढती जा रही है, निजता के दायरे जिस तरह बढ़ रहे हैं वे रिश्तों को तोड़ने और अकेलेपन को अकाट्य नियति जैसा बनाते जा रहे हैं। हम यह भूल रहे हैं की व्यक्ति की koi स्वतंत्र सत्ता नहीं होती है। इनके बीच मानकों, मूल्यों और प्रतिबद्धताओं के सामाजिक अभिप्राय खोते जा रहे हैं। पुरानी शब्दावली में संस्कारों से मुक्त या विहीन होती जा रही संस्कृति विकृतियों से ग्रस्त होती जारही है। बहुतों का ऐसा सोचना है कि पश्चिम के प्रभाव में अपनी संस्कृति से विमुख होते जा रहे हैं और दूर होते जा रहे हैं। संभवत: स्वतंत्रतापूर्व अपनी संस्कृति से प्रोत्साहन मिलता था पर हम उन्ही की संस्कृति को अंगीकार करते गए।

संस्कृतिविहीनता की भौतिक समृद्धि से भरपाई कदापि सम्भव नहीं है। इस प्रसंग में साहित्य की अहं भूमिका बनती है। वह मनुष्यता की रक्षा करने वाला और जोड़ने, प्रेम करने और एकात्म होने का अवसर देता है। ऐसे में साहित्य और संस्कृति का रिश्ता स्रष्टा और सृष्टि का होता है ।साहित्य यह कार्य मूल्यों की सृष्टि द्वारा पूरा करता है। भौतिक जीवन की सफलताएँ गर्व और गौरव का कारण हैं होती हैं। संस्कृति जिन बौद्धिक और नैतिक अवधारणाओं का निर्माण करती है उसका उपादान साहित्य होता है। उदारता, करुणा और शांति की प्रतिष्ठा करते हुए हमारा 'मैं' साहित्य के माध्यम से 'हम' में रूपांतरित होता है। 'मैं' को विराट रूप देने का कार्य साहित्य करता है क्योंकि वह मन का अधिष्ठाता होता है।

साहित्य का सर्जक स्वाधीन होता है और अपने अनुभव के साथ उसका दायित्वबोध जुड़ा हुआ है पर उसके अनुभव की अभिव्यक्ति भी ज़रूरी है। यह अभिव्यक्ति समाज की उपस्थिति के बिना सम्भव नहीं है और ऐसी स्थिति में सर्जक का सामाजिक दायित्व महत्वपूर्ण हो उठता है जो उसे अपने सीमित स्व के दायरे से ऊपर उठने के लिए प्रेरित करता है। इसके लिए उसे सामान्य जन की व्यथा को समझना होगा और उसमें निहित अर्थ और आशय को शब्द देना होगा। तभी उसका रचा साहित्य मानवीय संवेदना की राह प्रशस्त कर सकेगा। इस तरह रचनाशीलता और व्यापकता के अजस्र स्रोत के रूप में साहित्य मनुष्यता के मूल्य की साधना करता है।